

पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा

प्रश्न :- आत्मा अनन्त शक्तियों का पिंड है, परन्तु अभी ज्ञानगुण खयाल में नहीं आता, तो ऐसी स्थिति में कार्य कैसे होगा ?

समाधान :- आत्मा में अनन्तशक्ति है। ज्ञानगुण लक्ष्य में नहीं आता क्योंकि स्वयं यथार्थ रीतिसे नहीं देखता है। स्वयं अपने को ग्रहण कर सके ऐसा है। अपने को ग्रहण करने की अनन्त शक्ति उसमें है; परन्तु ग्रहण नहीं होनेका कारण दृष्टि और उपयोग परकी ओर हैं। यदि आप अपने को ग्रहण करे, स्वयं अपने में परिणमे तो स्वयं अपनेरूप हो जाय। पहले अंशतः हो, पश्चात् पूर्ण हो जाय। ऐसा अनन्त बल उसमें भरा है। आत्मा में अनन्तगुण हैं वे सब एक चैतन्य का ग्रहण होते ही स्वभावरूप परिणमने लगते हैं। प्रत्येक गुण अपनी ओर परिणमता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-३४७)



प्रश्न :- क्या उसे ऐसा विश्वास आ जाता है कि अपनी इस वस्तु के आधार से मुझे स्थायी शान्ति-संतोष-आराम का अनुभव होगा ? फिर कभी वहाँसे लौटना नहीं पड़ेगा-ऐसी प्रतीति आ सकती है ?

समाधान :- हाँ, ऐसी प्रतीति आनीचाहिये कि यह ज्ञायक ही सत्यार्थरूप है, कल्याणरूप है तथा अनुभवने योग्य है, उसमें से ही तृप्ति एवं आनन्द आयेगा। 'समयसार' में आता है न कि, 'इसमें सदा रतिवंत बन, इसमें सदा सन्तुष्ट रे; इससे हि बन तू तृप्त, उत्तम सौख्य हो जिससे तुझे।' जिसमें से तृप्ति होगी, जिसमें से बाहर निकलने का मन नहीं हो-ऐसे तृप्तस्वरूप, सन्तोषस्वरूप आत्मा को ग्रहण कर।

तू सब बाहर खोजता है, परंतु भीतरमें से सर्वस्व प्रगट होगा। तुझे आनंद या ज्ञानके लिये बाहर व्यर्थ भटकना नहीं पड़ेगा, अंतर्दृष्टि होनेपर ज्ञान-आनन्द अपने आप स्वयं परिणमित होंगे। जिसमें कोई थकान नहीं है। कष्ट नहीं है, ऐसा आत्मा

सहज ही प्रगटरूपसे परिणमित होगा। किन्तु प्रारंभिक भूमिका में पलटा खानेमें मुश्किल पड़ती है और कठिन लगता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-३४८)



प्रश्न :- पहले एसा भासित होता था कि मेरा जीवन पराश्रित है। अब स्वभाव समझने के पश्चात् तो ऐसा लगेगा कि मेरा जीवन मेरे आधारसे है ?

समाधान :- मैं किसीके आधारसे नहीं हूँ। मैं परसे टिकता हूँ या परसे मेरा जीवन है ऐसा नहीं है; परन्तु मैं स्वयं अपने अस्तित्वसे टिका हुआ हूँ, मैं स्वयं एक ज्ञायक पदार्थ हूँ। किन्हीं अन्य पदार्थों (साधनों)से टिके ऐसा मेरा तत्त्व नहीं है। मुझे किसी पर पदार्थ के आश्रय की जरूरत नहीं है-ऐसा स्वरूप होनेपर भी स्वयं एकत्वबुद्धि करके अटक गया है।

स्वतःसिद्ध स्वभाव उसे कहा जाता है कि जिसे पर के आश्रय की जरूरत न हो। जो स्वतःसिद्ध स्वभाव हो वह स्वयं परिणमता है और वह स्वभाव अमर्यादित होता है; इसलिये ज्ञान-आनन्दादि अनन्तगुणों का जो स्वभाव है उसकी कोई मर्यादा नहीं है, वह अनन्त ही है। ऐसे स्वभाव की महिमा आये तो वह अपनी ओर जाता है।

बाह्यसे तथा विभावों की परिणति से-विल्पों की हारावलि से-उसे थकान लगे तो अपने चैतन्य का आश्रय ग्रहण करे। यदि वह बाहर से नहीं थकता तो उसे अपना आश्रय लेना कठिन पड़ता है। जब थकान लगे कि यह विभावपरिणति तो कृत्रिम है, सहज नहीं है तथा कष्टरूप-दुःखरूप है तब उसे अपने सहजस्वभाव का आश्रय ग्रहण करने की अंतर से जिज्ञासा-भावना हुए बिना नहीं रहती।

(स्वानुभूतिदर्शन-३४९)



(शेष अंश पृष्ठ संख्या-१९ पर)



स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत-२५३९ अंक-१९३, वर्ष-१७, अक्टूबर-२०१३

आसो सुदि १५, बुधवार, दि.१६-१०-१९७८, बहिनश्री के वचनामृत-
३२४ पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीका प्रवचन, प्रवचन-१२१

३२४। 'जैसे एक रत्नका पर्वत हो और एक रत्नका कण हो वहाँ कण तो नमूनरूप है, पर्वतका प्रकाश और उसका मूल्य अत्यधिक होता है;...' एक कण से पर्वत का प्रकाश और उसकी कीमत अत्यधिक होती है। 'उसी प्रकार केवलज्ञानकी महिमा श्रुतज्ञानकी अपेक्षा अत्यधिक है।' आहा..हा..! केवलज्ञान एक समय में परिपूर्ण ज्ञान के पर्यायरूप परिणमता है, वह तो बड़ा पर्वत है। आहा..हा..! एक सेकण्ड के असंख्य वें भाग में केवलज्ञान की पर्याय परिपूर्ण तीन काल, तीन लोक को देखे! आहा..! 'उसी प्रकार केवलज्ञानकी महिमा श्रुतज्ञानकी अपेक्षा अत्यधिक है। एक समय में सर्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावको...' सर्व द्रव्य, सर्व क्षेत्र, लोक में जिसका अंत नहीं उसे भी, सर्व काल आदि नहीं, लेकिन अंत नहीं उसे भी, आहा..हा..! सर्व भाव-अनंत गुण और अनंती पर्यायें। आहा..हा..! उसे 'संपूर्णरूपसे जाननेवाले केवलज्ञानमें और अल्प सामर्थ्यवाले...' भले ही श्रुतज्ञान कहते हैं, किन्तु अंतर्मुहूर्तमें पूरा विषय लक्षगत कर लेता है। इतनी ताकत होती है। आहा..हा..! वह ताकत कितनी! क्या कहा देखा?

'अल्प सामर्थ्यवाले श्रुतज्ञानमें-भले ही वह अंतर्मुहूर्तमें सर्व श्रुत फेरनेवाले...' आहा..हा..! अंतर्मुहूर्त-४८ मिनट के अंदर, आहा..हा..! बारह अंग को श्रुतकेवली (लक्षगत कर लेता है)। भगवान एक समय में तीनकाल, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को जानते हैं जबकि ये अंतर्मुहूर्तमें बारह अंग नाम सर्व श्रुत को लक्षगत् कर लेते हैं। आहा..हा..! यहाँ तो अंतर्मुहूर्तमें पच्चीस, पचास गाथा, सौ, दोसौ, पांचसौ गाथा (पढ़ ले) आहा..हा..! पर वैसा ज्ञान का विकास बारह अंगका भी हो व अंतर्मुहूर्तमें वह अंदर में लक्षगत् कर लेते हैं। आहा..हा..! गजब की बात है। भाई! साधारण योग्यता में प्रतीत होना मुश्किल है। ऐसी ताकत है। आहा..हा..!

'सर्व श्रुत फेरनेवाले श्रुतकेवलीका श्रुतज्ञान हो...' द्रव्य श्रुतकेवली, भावश्रुत तो अभी जो कहा। जो कोई भी इस भावश्रुत से, चैतन्य के भावश्रुत के प्रकाश के भाव से, जो त्रिकाली प्रकाशित हुआ प्रभु, उसे जो जानता है वह निश्चय से श्रुतकेवली है। अतः जैसे केवल आत्मा को भगवान ने जाना वैसे यह श्रुतकेवली वे केवल आत्मा को (जानते हैं)। आहा..हा..! अरे प्रभु! यह कैसा आत्मा! जिनके अनन्तानन्त गुण और जिसकी अनन्त पर्याय, जिस गुण व पर्याय का अंत नहीं है कि यह आखिर का गुण और आखिर की पर्याय। आहा..हा..! ऐसे गुण और पर्याय को अंतर्मुहूर्तमें द्रव्य श्रुतकेवली



लक्ष्यगत कर लेते हैं। आहा..हा..! यह भी आश्चर्यकारी बात लगती है। आहा..! केवलज्ञानी एक समय.. बापू! इसका स्वभाव है। आहा..हा..! यह स्वभाव परिपूर्ण जहाँ प्रगट हुआ, वह तो तीन काल के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को पूर्ण जानता है और श्रुतकेवली अंतर्मुहूर्त में इस द्रव्यश्रुत के जितने भी प्रकार हैं... आहा..हा..! उसे एकदम पलटकर देख लेते हैं। फिर भी वह केवलज्ञान के आगे तो अनन्तवें भाग में है। आहा..हा..!

‘सर्व श्रुत फेरनेवाले श्रुतकेवली का श्रुतज्ञान हो तथापि बहुत बड़ा अंतर है।’ आहा..हा..! वह आता है न! ‘स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा’ में। सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञान की पर्याय को अपनी पर्याय प्रगट हुई वह है! द्रव्यश्रुत तो एकतरफ रहा उसे पामर जानते हैं। ‘स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा’ आहा..हा..! कहाँ मेरी ज्ञान की पर्याय और कहाँ परमात्मा केवलज्ञान की पर्याय! ओहो..हो..! एक बड़े पर्वत जितना प्रकाश और एक छोटा प्रकाश का कण। आहा..हा..! वस्तु के रूप में प्रभुता और परमेश्वर मानने पर भी धर्मी, पर्याय को पामर मानता है। आहा..हा..!

जिनका अकेला ज्ञान स्वभाव ही है प्रभु का, वह ज्ञान चैतन्य स्वभाव उसका जानना-देखना ऐसा त्रिकाली स्वभाव है। उसे जिसने स्व को और पर को... उसमें नहीं कहा? कि, यदि तीनकाल और पर को न जाने तो स्वयं एक ही द्रव्य त्रिकाली है उसे भी नहीं जाने। आहा..हा..! क्या कहते हैं? ४८-४९। भगवान आत्मा एक स्व है, अनादि अनन्त है वह एक को जाने तो इसमें तीनकाल आ गया। आहा..हा..! इसतरह अनादि अनन्त है। उसने आत्मा को जाना न? तो आत्मा त्रिकाली है उसका ज्ञान हुआ न? त्रिकाल का हुआ कि नहीं हुआ? कि केवल वर्तमान का हुआ? आहा..हा..! ऐसी ताकत है। मूल वस्तु की पूरी शक्ति और उसकी दशा और उसका प्रमाण ये सब कोई अलौकिक बातें है। आहा..हा..!

वही यहाँ पर कहते हैं ‘श्रुतज्ञान हों तथापि

बहुत बड़ा अंतर है।’ आहा..हा..! भले ही भावश्रुत से आत्मा को जाना उस अपेक्षा से तो जैसा आत्मा केवली ने जाना और इस अपेक्षा से तो वह केवली है, हम श्रुतकेवली हैं। आहा..हा..! परन्तु भावश्रुत का जो ज्ञान अपार, उसका जो ज्ञान है वह भी द्रव्यश्रुत को अंतर्मुहूर्त में विषय कर ले तो भी वह केवलज्ञान की पर्याय की अपेक्षा केवलज्ञान के प्रकाश के पूंज के पर्वत के आगे यह श्रुतज्ञान तो एक कण समान है। आहा..हा..! समझ में आया?

अपना स्व आत्मा है... सो तो कहा ३३ में, ‘प्रवचनसार’ भगवान ने आत्मा को अक्रम से एक साथ जाना, हमने क्रमशः लेकिन एकसाथ जाना पूरा। ऐसा जो भगवान आत्मा मात्र ज्ञान का पर्वत, ज्ञानपर्वत जो हिलाने पर भी न हिले पर्याय में ऐसा ध्रुव। आहा..हा..! उसे हमने जाना, पंचम आरे के अभी तो हजार साल पहले हुए ‘अमृतचंद्राचार्य’ वे ऐसा कहते हैं, हम श्रुतकेवली हैं। आहा..हा..! इस अपेक्षा से। आत्मा का जैसा पूर्ण स्वरूप है केवलज्ञान तो एक गुण की एक पर्याय ऐसी अनंत पर्यायों का पिण्ड ज्ञान और ऐसे अनंत गुण, अनन्त पर्यायों का पिण्ड ऐसा जो आत्मा प्रभु, उसे हमने जाना है इसलिये हम भी श्रुतकेवली हैं। हालाँकि उसवक्त तो एक अंग का भी ज्ञान नहीं था-द्रव्यश्रुत। आहा..हा..!

‘कुंदकुंदाचार्य’ को भी आचारांग के एक अंग के अमुक भाग का ज्ञान था। आहा..हा..! फिरभी उनके १००० साल बाद ‘अमृतचंद्राचार्य’ भी... आहा..हा..! जिनकी टीका तो गजब है। आहा..हा..! जिनके ज्ञान के क्षयोपशम की शक्ति का विकास... आहा..हा..! वे ऐसा कहते हैं, हमने प्रभु आत्मा का स्वरूप जो चैतन्य द्रव्य, उसे हमने ज्ञान की पर्याय से जाना और भगवान ने केवलज्ञान से जाना, इस अपेक्षा से तो हम भी श्रुतकेवली हैं, ऐसा कहते हैं। वे केवली हैं। आहा..हा..! द्रव्यश्रुत तो एक अंग का कुछ हिस्सा है। समझ में आया? आहा..हा..!

ये स्वरूप के अंदर, आहा..हा..! यहाँ तो द्रव्यश्रुत को अंतर्मुहूर्त में विषय कर ले, आहा..हा..! भावश्रुत से आत्मा को जाना हो व द्रव्यश्रुत को पूर्ण जाना हो, उसे अंतर्मुहूर्त में लक्षगोचर कर लेते हैं। गजबकी बातें हैं प्रभु? आहा..हा..! यहाँ तो एक घण्टे में हजार, दो हजार पंद्रह सौ श्लोक मुश्किल से पढ़ सके। वहाँ संप्रदाय में स्वाध्याय करते थे तो पाँच, छः हजार श्लोक कंठस्थ थे। रात्रि को घण्टा, डेढ़-दो घण्टा स्वाध्याय होता था। पंद्रह सौ, हजार, पंद्रह सौ श्लोक का अनुप्रेक्षण हो सके। अब यहाँ तो कहते हैं कि, अंतर्मुहूर्त में बारह श्रुत का अनुप्रेक्षण कर लेते हैं। गजब बात है। फिर भी वे मानते हैं कि, मेरी पर्याय केवलज्ञान की अपेक्षा कण समान है। आहा..हा..!

‘जहाँ ज्ञान अनन्त किरणों से प्रकाशित हो उठा,...’ आहा..हा..! अब ये अभी तीन दिन पहले अखबार में चर्चा आयी थी। कितने ही मुमुक्षु ऐसा कहते हैं कि, आत्मा को जाने वह निश्चय श्रुतकेवली है। यह बात गलत है, श्रुतकेवली अभी होते ही नहीं हैं। आहा..हा..! तब (वर्तमान दिगम्बर मुनि ऐसा) कहते हैं कि फिलहाल पंचमकाल में शुभयोग ही होता है। अरे! प्रभु क्या कहते हो? भाई! वे तो संत थे जो श्रुतकेवली हो गये, क्या आत्मा को जाना वह शुभयोग से जाना? आहा..हा..! क्या वहाँ शुभयोग था? ये चैतन्य के प्रकाश के नूर के तेज में भगवान ने उन्हें जाना। आहा..हा..! उसे शुभयोग से भिन्न जाना। आहा..हा..! अरे..! कैसी तुच्छ परिभाषा कर दी है वर्तमान में! वर्तमान में मुनिपना और समकित थे सब शुभयोग में होता है, बस! क्योंकि, शुभयोग से निर्जरा होती है अनिवृत्तिकरण में। इसलिये वर्तमान में जहाँ शुभयोग होता है इससे संवर-निर्जरा होती है। अरे..! प्रभु! क्या कर रहे हो? भाई!

यहाँ तो कहते हैं कि, द्रव्यश्रुत को अंतर्मुहूर्त में लक्षगत कर लेते हैं बारह अंग। आहा..हा..! कितनी स्मरणशक्ति। इधर तो थोड़ी सी अधिक

स्मरणशक्ति हो तो लगे कि मैं तो,... आहा..हा..! कितनी मेरी याददास्त है और कितना मुझे आता हैं! अरे प्रभु! सुन तो सही! आहा..हा..! ये तो अंतर में भावश्रुत हुआ है इससे आत्मा को जाना है उसको द्रव्यश्रुत में इतना होता है... आहा..हा..! उसे अंतर्मुहूर्त में लक्षगत कर लेते हैं। गजब की बात है! प्रतीति में आना मुश्किल है। छद्मस्थ है, (अंतर्मुहूर्त में) पढ़ ले। परन्तु बापू! तुझे पता नहीं है ज्ञान की केवल की पर्याय तीन काल, तीनलोक को जान लेती है। ये अब श्रुतज्ञान की पर्याय में जो द्रव्यश्रुत हुआ। आहा..हा..! उसे अंतर्मुहूर्त में (लक्षगोचर) कर लो..! जबकि केवली एक समय में तीनकाल को जानते हैं, यहाँ तो अंतर्मुहूर्त में श्रुत को पढ़ते हैं। ठीक है। आहा..हा..!

‘तथापि बहुत बड़ा अंतर है। जहाँ ज्ञान अनन्त किरणों से प्रकाशित हो उठा, जहाँ चैतन्य की चमत्कारिक ऋद्धि पूर्ण प्रगट हो गई-’ आहा..हा..! जिनकी पर्याय में चैतन्य ऋद्धि प्रगट हुई, पर्याय में है! पूर्ण प्रगट हो गई। आहा..हा..! फिर भी वस्तु में तो पूर्णता ही भरी है। आहा..हा..! पूर्ण प्रगट हुई इसलिये फिर अंदर की शक्ति में कोई कमी आ गयी सो बात नहीं है। आहा..! क्या कैसी है यह वस्तु! ऐसी भाषा निकली न! चमत्कारिक ऋद्धि पूर्ण प्रगट हो गई, पूर्ण प्रगट हो गई, पर्याय में। तो भी वस्तु गुण और द्रव्य है सो तो पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... चमत्कारिक चीज है। आहा..हा..! यह साधारण तर्क में, विकल्प में समझ में आ जाये ऐसी चीज नहीं है, बापू! आहा..हा..! वह तो द्रव्य का स्वभाव ही कोई ऐसा है। आहा..हा..! कि, ऐसी पूर्ण पर्याय प्रगट हुई, हालाँकि उसे श्रुत के साथ मिलाना है फिर भी वह जो पूर्ण पर्याय प्रगट हुई परन्तु भीतर वस्तु में पूर्णतामें से आयी इसलिये पूर्णता में कोई कमी हो गई (सो बात नहीं है)। आहा..हा..! क्या कैसी है यह बात! कठिन काम है, भाई! आहा..हा..! सो तो सम्यक्दृष्टि ही सहन करता है, उसे इसप्रकार

कबूल करते हैं। आहा..हा..! अंतर्मुहूर्त में बारह अंग को पलटना मतलब क्या? आहा..हा..! भाई! जिनको बारह अंग का ज्ञान है, उस ज्ञान की पर्याय में ऐसी ताकत है। भगवान जब एक समय में सबकुछ जाने तो यह एक अंतर्मुहूर्त में पूरा पलटता है। आहा..! इसमें क्या है? आहा..हा..! एसा भगवान चैतन्य पर्वत जिन्हें पर्याय में प्रगट हुआ और इस श्रुत को अंतर्मुहूर्त में लक्षगोचर कर ले तो भी बड़ा-अनन्त फर्क है दोनों के सामर्थ्य में आहा..हा..!

मुमुक्षु :- प्रत्यक्ष परोक्ष का भेद है?

पूज्य गुरुदेवश्री :- नहीं। प्रत्यक्ष परोक्ष का नहीं। इसकी शक्ति कम है और उसकी शक्ति बहुत है, ऐसे फर्क है। आहा..हा..! क्योंकि केवल अंतर्मुहूर्त में विषय कर सकते हैं परन्तु एक समय में तीनकाल को जान सकते हैं सो बात नहीं है। आहा..हा..! क्या है प्रभु की लीला! आहा..हा..! यह चैतन्य चमत्कारिक पदार्थ प्रभु! आहा..हा..! उसको जिसने जाना और जानने के बावजूद भी द्रव्यश्रुत में भी बहुत ज्ञान प्रगट हुआ.. आहा..हा..! फिर भी वे द्रव्यश्रुत को अंतर्मुहूर्त में विषय कर ले तो ऐसा लगे कि यूँ पलट दिया! अरे! प्रभु यह बात ही कोई अलौकिक है। आहा..हा..!

द्रव्य का स्वभाव तो गुण तो अचिंत्य चमत्कारिक है। परन्तु पर्यायका श्रुतज्ञान की पर्याय में द्रव्यश्रुत होना भी ऐसे साधारण तर्क में आता है कि, परन्तु एक समय अंतर असंख्य समय है और अंतर्मुहूर्त में असंख्य समय है और द्रव्यश्रुत तो बहुत है। आहा..हा..! एक आचारांग के अक्षरह हजार पद, अट्टारह हजार पद, एक पद में इक्यावन करोड़ जाजेरा श्लोक। ऐसा ऐसा दुगना सुयगडांग, अट्टारह हजार का दुगना, छत्तीस हजार बहतर हजार, एकसौ चवालिस हजार, आहा..हा..! दो लाख, अट्टासी हजार, ऐसे-दुगना...ओहो..हो..! और वह भी बारह अंग में भी चौद पूर्व और इसके अलावा दूसरा विभाग अलग से। आहा..हा..!

जब केवल पर्याय तीन काल, तीन (लोक

को जानती है)। बापू! यह तो द्रव्य और पर्याय के माहात्म्य की बातें हैं। इसमें कहीं भी राग का माहात्म्य नहीं है। आहा..हा..! जिसका छद्मस्थ का अल्पज्ञान और द्रव्यश्रुत का बेहद विषय। आहा..हा..! तर्क से तो आम आदमी को बैठे नहीं। इतना एक असंख्य समय में (जानते हैं)। भगवान एक समय में जानते हैं, जबकि यह असंख्य समय में द्रव्यश्रुत को विषय कर लेते हैं। वह जाने सो तो ठीक परन्तु जानते है इसका अर्थ क्या हुआ, प्रभु! आहा..हा..!

तीनकाल तीनलोक एक द्रव्य के गुण के, पर्याय के, अपने, भाई! वह क्या है? आहा..हा..! वह पर्याय को समझना अंतर में, आहा..हा..! सो तो कहा न? 'जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयतेहि' (प्रवचनसार गाथा-८०) अरिहंत की पर्याय पूर्ण है ऐसा जाना और जानकर आत्मा के साथ मिलाने जाते हैं वहाँ पर्याय में गुण को मिलाने हैं और गुण को द्रव्य में अभेद करते हैं। आहा..हा..! वहाँ उन्हें आत्मा का ज्ञान होता है, सम्यग्दर्शन होता है। आहा..हा..! विकल्प से यह बात समझनी आसान नहीं है।

यह स्वभाव ही भगवान आत्मा का एक समय में तीन काल को जानने का (है)। शक्ति में तो तीनकाल, तीनलोक को जाने उतनी शक्ति तो त्रिकाल है परन्तु यहाँ तो प्रगट में तीन काल, तीन लोक को जानते हैं। आहा..हा..! एक समय की दशा, वह तो गुण है। ऐसे केवलज्ञान के आगे भी भावश्रुतकेवली निश्चय से होते हैं और द्रव्यश्रुत में इतना ज्ञान बारह अंग का हो। आहा..हा..! उसे पूरा विषय कर ले उतनी धारणा में ताकत होती है। आहा..हा..! फिर भी वह पर्वत के आगे छोटा रजकण होता है। आहा..हा..! वैसे केवलज्ञानी के पास कण समान है। आहा..हा..! अरे! यह कौन है? प्रभु! आहा..हा..!

जिसे चैतन्य के चमत्कार प्रगट हुए, आहा..हा..! ये चमत्कार की क्या बात करे! आहा..हा..! कहते

हैं कि, भले ही वह प्रगट हुआ और द्रव्यश्रुत हुआ परन्तु वह अभी केवलज्ञान के आगे तो अनन्त वें भाग में पामर है, कण-समान है। आहा..हा..! ऐसी बातें हैं। ऐसा उपदेश। इन लोगों को अभी लगा दिया है, व्रत करो, उपवास करो, और भक्ति करो या यात्रा करो। अरे! भगवान! ये सब बातें तो राग की क्रिया। प्रभु! तुझे पता नहीं है। तेरे द्रव्य, गुण, पर्याय की ताकत कितनी हैं, इस ताकत का तुझे अंदाजा नहीं है। राग की ताकत को आत्मा की ताकत बता देते हैं लेकिन राग में ऐसी ताकत है नहीं। आहा..हा..! लाख उपवास कर चाहे करोड़ कर या अरब यात्राएँ कर ले करोड़, अरब रुपया खर्च कर लो चाहे तो भी उस राग के अंश में ताकत नहीं है कि, वह आत्मा को जान सके। आहा..हा..! ऐसी बात है प्रभु! आहा..हा..! ऐसी तो अंदर में भावश्रुतज्ञान की ताकत है कि, जो अंतर में आत्मा को जाने। ये राग की क्रियाएँ सब आती है किन्तु वह बंध का कारण हेयरूप है। आहा..हा..!

निश्चय से तीर्थ प्रभु आत्मा पूर्ण सब स्वयं। देव भी स्वयं, गुरु स्वयं, सिद्धांत का तत्त्व है वह भी स्वयं। आहा..हा..! ऐसा होने पर भी, भान होने पर भी उन्हें देव-गुरु-शास्त्र की महिमा का व्यवहार से विकल्प आता है। आहा..हा..! फिर भी वह विकल्प हेयरूप है। आहा..हा..! सम्यग्दृष्टि उसे हेय जानते हैं। तब कोई कहे कि, हेय जानते हैं तो उसे करते क्यों है? बापू! वह आये बिना रहते नहीं, भाई! आहा..हा..! ऐसा बारह अंग का

श्रुतज्ञान प्रगट होने के बावजूद भी (द्रव्यश्रुत और केवलज्ञान में बड़ा अंतर है)। आहा..हा..!

‘चैतन्य की चमत्कारिक ऋद्धि पूर्ण प्रगट हो गई- ऐसे पूर्ण क्षायिक ज्ञान में...’ आहा..हा..! ‘ऐसे पूर्ण क्षायिक ज्ञान में और खण्डात्मक क्षयोपशमिक ज्ञान में अनन्तगुना अंतर है।’ आहा..हा..! कितना सुंदर आया! आहा..हा..! अब यहाँ अभी तो बिलकुल साधारण जहाँ अभी सम्यग्ज्ञान बिना, आत्मज्ञान बिना धारणाज्ञान हो ऐसे में जीव को लगता है कि, आहा..हा..! उस बिचारे को (ऐसा लगता है) कि आहा..हा..! मैंने कितना जान लिया! हमने बहुत प्रगति कर ली? अरे..! प्रभु! सुन तो सही, भाई!

ऐसे भावश्रुतज्ञान द्वारा आत्मा को जाना है और द्रव्यश्रुत का बारह अंग का ज्ञान प्रगट हुआ है। आहा..हा..! वह भी केवलज्ञान के आगे.. आहा..हा..! खण्डात्मक ज्ञान (है), अनन्त अंतर है। आहा..हा..! भावश्रुतज्ञान सहित जो द्रव्यश्रुत हुआ इसमें, है! बारह अंग का ज्ञान मिथ्यादृष्टि को नहीं होता। मिथ्यादृष्टि को तो नौ पूर्व और ग्यारह अंग का ज्ञान होता है। आहा..हा..! दसपूर्व का ज्ञान हो वह तो सम्यग्दृष्टि होता है। आहा..हा..! समझ में आया? आहा..हा..! यहाँ तो भगवानआत्मा जिन्हें भावश्रुतज्ञान से जाना उन्हें द्रव्यश्रुत का इतना ज्ञान हो तो भी वह केवलज्ञान की अपेक्षा अनन्तगुना फर्क है। आहा..हा..! अनन्तगुना फर्क है। आहा..हा..! यह तो आत्मा के लिये बात है, बापू! ३२४ बोल पूरा हुआ।

क्षमापना

श्रीमद् भगवंत वीतराग सर्वज्ञदेव, परमशांतरस निमग्न निर्ग्रथ भावलिंगी संत गुरुराज, वीतरागतापोषक जिनवाणीमाता एव जिनशासन परंपरा में हुए सर्व सत्पुरुषों के प्रति मन-वचन-काया के योग से जो कुछ भी अविनय अपराध या अशातना हुई हो उसकी शुद्ध अंत-करणपूर्वक क्षमा याचना करते हैं। स्वानुभूतिप्रकाश के पाठकवर्ग के प्रति जो कुछ भी अविनय या अशातना हुई हो उसकी क्षमा याचना करते हैं।



पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथ
पत्रांक-४७० पर हुआ भाववाही प्रवचन,
दि.०९-०७-१९९८, प्रवचन नं. ६५०

‘श्रीमद् राजचंद्र’ वचनमृत। पन्ना-३८४, पत्रांक-४७०। ‘त्रिभोवनभाई’ पर ही पत्र है। हमने जो ५१०वाँ पत्र पढ़ा था। उन्हीं के ऊपर आगे लिखा गया यह पत्र है। ‘ज्ञानीपुरुष के प्रति अभिन्नबुद्धि हो, यह कल्याण का महान निश्चय है,...’ अवतरणचिह्न में वचन इसलिये लिखा है कि यह विषय सिद्धांतरूप है। अध्यात्म के कुछएक सिद्धांत हैं, जिसमें से यह भी एक सिद्धांत है, जो मुमुक्षु की भूमिका में लागू पड़ता है।

मुमुक्षुजीव को अध्यात्मदशा की प्राप्ति होने के लिये जो भी पूर्वतैयारी, पात्रता, आत्मारथिता इत्यादि होते हैं इसमें यह एक बहुत बड़ी बात है जिसे अगर ध्यान में लिया जाये तो इस वचनमृत का जो पिछला हिस्सा है वह सार्थक हो जाये। ‘यह कल्याण का महान निश्चय है।’ ऐसा लिया है। अतः यह सिद्धांत है कि अगर ज्ञानीपुरुष के प्रति अभिन्नबुद्धि होवे, अभिन्नबुद्धि होना माने क्या? अंतर न रहे। किसी भी प्रकार का भाव में अंतर न रहे। ऐसा अभिप्राय, बुद्धि नाम अभिप्राय। फिर बाह्य परिस्थिति तो पुण्ययोग अनुसार, प्रारब्ध अनुसार बनती है। परन्तु भाव में (उनकी समीपता रहती है)।

जैसे कि ‘सोगानीजी’ ‘सोनगढ़’ रह नहीं सकते थे। प्रारब्धमें तथारूप पुण्ययोग नहीं था। पवित्रता प्राप्त हुई थी किन्तु पुण्य नहीं था। देखो! ‘गुरुदेवश्री’ के पास बरसों से रहनेवाले ज्यों के त्यों रहे हो। वैसा ही पुण्ययोग होता है। पात्रतादि का ठिकाना न हो तो भी। जबकि ये तो ज्ञानदशा की प्राप्ति करनेवाले। एक ही दिन के परिचय में ज्ञानदशा प्राप्त करनेवाले को ऐसा पुण्ययोग नहीं था कि श्रीगुरु के समीप में रह सके। संयोग में रह सके। हालाँकि पत्रों में भक्ति की अभिव्यक्ति ऐसे हुई है कि, यहाँ (कलकत्ता) आने पश्चात् ऐसा लगता है कि, ‘सोनगढ़’ की धूली के लिये

भी तड़पना पड़ रहा है। क्या लिखते हैं? ‘सोनगढ़’ वासियों को ऐसा लिखते हैं कि, मुझे तो वहाँ की धूली भी नसीब नहीं होती और इसकी मुझे तड़पन हो रही है। ‘गुरुदेवश्री’ की तो क्या बात करे? इतनी तीव्र अभिन्नबुद्धि आती है।

अभिन्नबुद्धि माने क्या? भेदभावरहित भाव। क्योंकि स्वयं को ऐसा लगा है कि, ये तो सर्वस्व प्रदान करनेवाले हैं, ये तो सर्वस्व के दाता हैं। अब जिनसे सर्वस्व की प्राप्ति हुई उनसे कैसा भेदभाव रखना? भेद रखने का प्रश्न ही नहीं उठता।

जिनके केवल निमित्तत्व के कारण मेरा भावि अनन्तकाल सुधर गया इसका मूल्य कितना? कैसे इसका मूल्यांकन हो? कैसे हो? वह अभिन्नबुद्धि है। वह एक प्रकार की किसी निश्चितरूप योग्यता का अनुभव करके समझने जैसा विषय है। मात्र शब्दार्थ या भावार्थ से समझने योग्य नहीं है। परन्तु इसप्रकार का यदि अभिन्नभाव आ जाये तो वह feeling level का विषय है। सिर्फ thinking level का विषय नहीं है। और ऐसे जीव का कल्याण होने में कोई शंका की गुंजाईश नहीं रहती। उसको खुद को शंका नहीं रहती। दूसरे को रहे न रहे इसके साथ कोई निस्वत नहीं है। परन्तु उसे खुदको ही शंका नहीं रहती है। उसे स्वयं को अंतरंग से निश्चय हो जाता है कि मैं तिर गया।

‘मीरांबाई’ तो मार्गानुसारी थे। एकबार ऐसा लगा होगा कि, ऐसा जो संसार को पार करना यह तो सागर को पार करने के बराबर है। लेकिन गुरुचरण में उन्हें इतनी भक्ति आयी कि, फिर तो लगा कि, मेरा तो संसार ही सूख गया। ‘भवसागर तो सूख गया, फिर नहीं मोहे तरननकी’ पहले तो ऐसी फिर होती थी कि, यह भवसागर कैसे पार हो सकेगा? यह फिर ही चली गई। क्यों? क्योंकि सागर की जगह बिलकुल

सूखा मैदान हो गया। चलते जाओ। तेजी से दौड़ने लगे। सागर ही न रहा। कोरी जमीन हो गई। एकमात्र गुरुचरण की भक्ति में मोह सूख गया। वास्तव में तो भवसागर खुद का मोह ही था। और कुछ नहीं था। जीव का खुद का मोह ही उसका भवसागर है। मोह सूख गया तो कहते हैं कि, भवसागर पूरा सूख गया। अब मुझे तैरना पड़ेगा यह बात ही नहीं रही। और इतना ज्यादा कैसे तिर सकुंगी यह फिक्र उनकी चली गई। देखो! अंतर से आत्मा कैसा उत्तर देता है!

‘ज्ञानीपुरुष के प्रति अभिन्नबुद्धि हो यह कल्याण का महान निश्चय है। ऐसा सर्व महात्मा पुरुषों का अभिप्राय प्रतीत होता है।’ मैं ऐसा कहता हूँ-ऐसा नहीं कहते। सर्व महात्माओं का ऐसा अभिप्राय प्रतीत होता है। वे महात्मागण भी महात्मा बाद में हुए हैं पहले उनको भी किसी ज्ञानी के प्रति अभिन्नबुद्धि हुई रहती है तब जाकर (ज्ञानी हुए हैं)।

मुमुक्षु :- शाम को आपने कहा न कि कृत्रिमता होती है। तो इसमें कृत्रिमता और सहजता किसप्रकार है?

पूज्य भाईश्री :- इसमें क्या है कि, कृत्रिमता देखादेखी से होती है। किसी को सहज अंतरंग से भक्ति हो और उसकी प्रशंसा होती है। अब प्रशंसा तो क्या है कि, सबको सुहाती है। प्रशंसा तो सबको अच्छी लगती है। यह देखकर आप भी ऐसा करने लगे। क्योंकि जिनकी प्रशंसा होती है वे ऐसा करते हैं इसलिये मैं भी ऐसा ही करूँ। भीतर में परिणाम वैसे न हो। अंतर में परिणाम तथारूप न हो। फिर तो कृत्रिमता हुई न? दिखावा। कृत्रिमता मतलब जो दिखावा होता है वह!

मुमुक्षु :- कोई खास प्रकार की योग्यता के बाद ऐसा अभिन्नभाव आता है?

पूज्य भाईश्री :- वैसे तो क्या है कि खुदको आत्मकल्याण करने की दिशामें यह एक सूझ है। एक प्रकार की सूझ है यह। क्योंकि इसमें दर्शनमोह गलता है। सबसे बड़ी बात क्या है? कि, दर्शनमोह बहुत अच्छी मात्रा में गल जाता है। वैसे तो ‘कृपालुदेव’ने प्रथम समकित बता दिया है इस स्थिति में। समकित नाम दर्शनमोह का अभाव। हालाँकि यहाँपर अभाव तो नहीं

हुआ किन्तु अभाव का प्रत्यक्ष कारण प्राप्त हो गया। ‘कारण गणी प्रत्यक्ष’ ऐसे लिया है। ‘स्वच्छंद मत आग्रह तजी, वर्ते सद्गुरु लक्ष समकित तेने भाखियुं’ ‘भाखियुं’ मतलब? वीतराग सर्वज्ञ परमात्माने दिव्यध्वनि में यह बात प्रकाशी है, ऐसा कहते हैं। मैं कहता हूँ-ऐसा नहीं कहा।

सम्यग्दर्शन का अनुसंधान हो जाये ऐसी मार्गदर्शिका उन्होंने वहाँ प्रतिपादित कर दी है। ‘आत्मसिद्धिशास्त्र’ का आशय वहीं पर निहित है। फिर वहाँ से आगे की ऊपर की भूमिका का Development होता है। और यह किसतरह होता है यह भी ‘आत्मसिद्धिशास्त्र’ में कह दिया है। वह शुरूआत की १७वीं गाथा में कहा। यानी कि पूरी १४२ पदों की रचना में यह बात तो १७वें पद में ही डाल दी है। पीछे १२५ पदों में तो इसके बाद में बहुत Development किया है उन्होंने। १२५ पदों की रचना तो बाद में की है।

मुमुक्षु :- मूल में तो निश्चय जो है...

पूज्य भाईश्री :- यह कल्याण संबंधित अहम निश्चय है। निश्चय में क्या है कि प्रतीति आ जाती है। यहाँ निश्चय किस अर्थ में है? कि, उस जीव को भीतर में निश्चय हो जाता है। बहुत अहम बात का निश्चय हो जाता है कि, जैसे मेरा छूटकारा हो गया। इसीलिये तो ‘मीरांबाई’ का दृष्टांत लिया। ‘मीरांबाई’ ने क्या गाया? कि मेरा तो भवसागर ही सूख गया। भले ही शेष कुछ भव बचे हो तो भी बादमें वे गौण हो जाते हैं। फिर वे बचे हुए भव दिखते नहीं हैं उनको। कितनी अहम बात समझनी चाहिये। इसमें न तो शास्त्र पढ़ना है कि इस नय से ऐसा है और इस नय से विषय ऐसा है, द्रव्यार्थिकनय से विषय ऐसा है और पर्यायार्थिकनय से विषय ऐसा है। वस्तु की वैज्ञानिक रचना ऐसी है। कर्म की Theory ऐसी है और चरणानुयोग ऐसा कहता है। कुछ रहा? सीधी समकित की Line से अनुसंधान हो जाता है। अनपढ़, बिलकुल अनपढ़ आदमी को यह सूझ आनी चाहिये। यहाँ सूझ का ही सवाल है। बिलकुल अनपढ़ हो वह भी इस प्रकार में आ सकता है।

मुमुक्षु :- ‘मीरांबाई’को तो प्रत्यक्ष गुरु मिले भी नहीं थे।

पूज्य भाईश्री :- शायद 'रईदासभक्त' जो हैं न? वे उनके गुरु थे। 'भक्त रईदास' हो गये। सूना है कि वे उनके गुरु थे। यानी कि मिले तो है। यह जो पद है 'ऐसी भक्ति करे रईदासा, प्रभुजी तुम चंदन हम पानी' वह पद इन्हीं का है। 'रईदासजी'का।

मूल में तो क्या है कि, निष्कामता है वह आत्मा का स्वभाव है। निष्कामता है यह आत्मा का स्वभाव है। किसी भी संप्रदाय में जन्मे हुए जीव हो वे स्वयं निष्कामता में आ गये। 'श्रीकृष्ण' की भक्ति में। उन्होंने 'श्रीकृष्ण'को नहीं देखा है। हजारों वर्ष पहले 'श्रीकृष्ण' हो गये। परन्तु भगवान के रूप में, ईश्वर के रूप में उनकी कल्पना करके वे निष्कामभक्ति में आये। जैन में भी सबको सर्वज्ञ कैसे होते हैं? यह थोड़ी सर्वज्ञ के स्वरूप का पता होता है? भले ही जिनमंदर में जाये, पूजा करे परन्तु उनके स्वरूप का पता कहाँ है? वह पता तो तब ही चलता है जब स्वभाव का सही ज्ञान होवे। या पहचान कब आती है? प्रथम समकित होता है तब होती है। यानी ज्ञानी की पहचान आती है तब ही वीतराग की पहचान होती है। ४७६ पत्र है। इसके पहले सब भजते ही हैं। सब अपने-अपने माने हुए ईश्वर को भजते हैं। सबलोग अपने ईश्वर को त्रिकाल ज्ञानी भी मानते हैं। सर्वज्ञपना का स्वीकार ओघे-ओघे तो उसमें भी है।

'हरिभद्राचार्य' 'योगदृष्टिसमुच्चय' ग्रंथ में इसी मुद्दे को उठाया है। इस मुद्दे पर बहुत सुंदर गाथाएँ रची हैं। यानी उन्होंने वहाँ से तत्त्व को पकड़ा। जीव तो जीव है। चाहे कोई भी संप्रदाय में पूर्वकर्मानुसार जन्म लेता है। प्रारब्धवशात् आता है। जीव तो जीव है। वह कोई जीव नहीं है सो बात तो नहीं है। 'घट घट अंतर जिन बसे, घट घट अंतर जैन' ज्ञानी उसे जैन के रूपमें देखते हैं। उसका अन्य संप्रदाय में जन्म हुआ है, वैसे नहीं देखते। 'गुरुदेवश्री' तो इस गाथा पर मस्ती में आते थे। घट-घट अंतर जिन बसे, घट-घट अंतर जैन।

मेरे साथ भी सर्वप्रथम ऐसा ही प्रसंग बना था। (एक मुमुक्षुने) मेरी पहचान करवाई 'गुरुदेवश्री' के आगे। कि, ये वैष्णव हैं। तो 'गुरुदेवश्री' क्या बोले यहाँ हमारे यहाँ कोई वैष्णव भी नहीं है, कोई जैन

भी नहीं है। सिर्फ वैष्णव नहीं है ऐसा नहीं कहा परन्तु जैन भी नहीं है ऐसा कह दिया। यहाँ हमारे यहाँ तो सब आत्मा ही हैं। यह एक पूरा तत्त्व का विषय है। तत्त्व को पकड़ते हैं। जीवतत्त्व को देखते हैं वे। और जीव का स्वभाव निष्कामता है। उस जीव को निष्कामता प्रगट हुई वही देखते हैं।

उन्हें मार्गानुसारी में लिये हैं। 'कृपालुदेव'ने उन्हें मार्गानुसारी में लेने का यही एक कारण है। ये 'नरसिंह मेहता' हो या 'मीरांबाई' को ले लो या 'कबीर' हो चाहे 'अखा भगत' हो। इन सबको मार्गानुसारी में लेने का एक ही कारण है-निष्कामता। वे निष्कामतापूर्वक भजते हैं। बस! उन्होंने स्वभाव को प्रगट किया। उनकी निष्कामता भी कहाँतक की निष्कामता? चाहे कैसे भी प्रतिकूल उदय की परिस्थिति में सकामता में नहीं आये हैं ये लोग। फिर उन्हें नमस्कार नहीं करेंगे क्या? अरे! ज्ञानियों उन्हें नमस्कार करते हैं। क्योंकि उन्होंने स्वभाव प्रगट किया है। ऐसी बात है।

मुमुक्षु :- गृहीत मिथ्यादृष्टि हो उन्हें भी निष्काम भक्ति हो सकती है क्या?

पूज्य भाईश्री :- यह पूरा विषय काफी विचित्र है। उनका गृहीत मिथ्यात्व टिकनेवाला नहीं है, छूट जानेवाला है। अब आपको इनके गृहीत मिथ्यात्व को देखना है या उसने जो निष्कामता प्रगट की है उसे देखना है? दोमें से किसको देखना है? 'सोभाग्यभाई'का स्थानकवासी संप्रदाय में जन्म हुआ था और ईश्वरकर्तृत्व की मान्यता भी थी। अब 'कृपालुदेव' को मिलने के बाद उन्हें अभिन्नबुद्धि आयी। क्या हुआ? अभिन्नबुद्धि प्रगट हुई। और ज्ञानी के मार्ग पर चलने का उनका अद्भुत निश्चय उन्हें भीतर से प्रगट हुआ। वह ऐसे कि, यदि बचना हो तो इनके आज्ञानुसार मुझे चलते जाना है। और कुछ मैं नहीं समझता। उनकी आज्ञा में मुझे चलना है। अब उनकी अभिन्नबुद्धि को आप तुल्य देंगे या उन्हें जो ईश्वरकर्तृत्व की मान्यता रह गई थी उसे तुल्य देंगे? कैसे देखोगे?

अभी हमारे सुबह स्वाध्याय में एक वचनमृत पर स्वाध्याय चला था कि, दूसरों के दोष नहीं देखना, गुण देखना। यहाँ वह सिद्धांत लागू होता है। 'मीरांबाई' के ईश्वरकर्तृत्व को देखना है या उनकी निष्कामता को

देखना है? 'सोभागभाई' के ईश्वरकर्तृत्व को देखना है या 'कृपालुदेव' के प्रति उनको जो अभिन्नभावयुक्त भक्ति आयी है उसे देखना है? यहाँ गुण बड़ा है या दोष बड़ा है? अब आप तराजू लेकर बैठिये।

यह एक ऐसे बहुत बड़े (गुण की प्राप्ति है)। दूसरी तरफ दोष भी खड़ा है। अब आपको तराजू में किस तरह तोलना है यह बताईये। तुलनात्मकदृष्टि कैसी होती है? जिन्हें गुणदृष्टि होती है उसको तो सबकुछ इसके आगे गौण हो जाता है वह इसलिये क्योंकि वह टिकनेवाली चीज नहीं है।

मुमुक्षु :- वह तो safeguard हो गया।

पूज्य भाईश्री :- बच गया वह तो। वरना गृहीत और अगृहीत, सत्य और असत्य के निर्णय करनेवाले फिर भी भटकेंगे। इसका भटकना बंद हो जायेगा। इतना बड़ा फर्क है इसमें।

मुमुक्षु :- यहाँ एक प्रश्न होता है कि, कोई अंबाजी को मानता हो तो इसमें निष्कामभक्ति कैसे लाना?

पूज्य भाईश्री :- प्रायः जो कुदेव को मानता है, इसप्रकार जो माताजी आदि अन्य-अन्य देवों को, हालाँकि वह तो पूरा संप्रदाय ही सकामता में चलता है। जैसे तो जैनियों में कोई सकामता का अभाव है वैसा नहीं है। सुबह दुकान पर जाने से पहले मंदिरजी में जाते हैं वे अच्छी कमाई हो ऐसे उद्देश्यपूर्वक ही अधिकतर लोग माथा टेकते हैं।

'अहमदाबाद'में 'सूर्यकीर्ति' भगवान की स्थापना की थी। उसवक्त एक जवान आदमी बहुत कड़ा विरोध करता था, हल्ला मचा दिया। अगले दिन स्वाध्याय के पश्चात् वे दो लोग दर्शन करने आये। दर्शन करके लौट रहे थे तो मैंने उस भाई को बुलाया। ऑफिस में बैठकर पूछा कि कल क्या आपको हो गया था? फिर बोलने लगा मुझे यह आपत्ति है, यह आपत्ति है। जैसे पीछे से पता चला कि उन्हें किसीने इस मुद्दे पर भड़काया था। सो तो ठीक। मैंने फिर पूछा, आप यहाँ पर दर्शन करने आते (हो)। 'अहमदाबाद'में तो दूसरे भी जिनमंदिर तो हैं। आप यहाँ दर्शन करने आते हो तो आपकी यहाँ मंदिरजी में कोई बड़ी अर्पणता की है इसलिये आते हो क्या? किस कारण से आते हो? बात क्या है? क्योंकि वे तो मूल दिगम्बर

संप्रदायवाले थे। उसने कहा, मैंने तो कुछ किया-कराया नहीं है। वरना अर्पणता की हो उन्हें हकबुद्धि होती है वह ऐसे कि, मैंने इधर बहुत अर्पणता की है इस जिनमंदिर के निर्माण में। इसलिये अधिकारवश कोई ऐसा विचार आ जाता है। परन्तु वैसा तो कुछ था नहीं। 'खाड़िया' मंदिर के निर्माण के वक्त शायद वह पैदा भी न हुआ हो क्योंकि छोटी उम्र का आदमी था।

उसने कहा, बात ऐसी है कि, ये नीचे जो भगवान हैं न पाँच फीट के बड़े प्रतिमाजी उनके दर्शन करने के बाद मेरा व्यापार-धंधा बहुत अच्छा चलता है। मूल दिगम्बर!! इसलिये मैं कभी बिना दर्शन किये दुकान पर जाता ही नहीं हूँ। दुकान खोलता ही नहीं हूँ। दर्शन करके ही दुकान खोलता हूँ। भले ही कितनी भी देरी क्यों न हो, मैं ये भगवान के दर्शन करके ही जाता हूँ। अब दिगम्बर है (फिर भी) सकामता से पूजते हैं। जैसे तो मैं अंबाजी को भी मानता हूँ और दूसरी-दूसरी माताजी को भी मानता हूँ। फिर तो सब बोलने लगा। उसको बेचारे को पता नहीं था हमलोग इसका क्या अर्थघटन करेंगे। लेकिन देखे तो बहुत सकामता-बेहद सकामता। फिर वीतराग सर्वज्ञ को माथा टेके या अंबाजी की फोटो को माथा टेके, सब एक ही हैं। उसके लिये वीतराग भी वीतराग नहीं रहे। उसके लिये तो वीतराग भी अंबाजी ही हो गये, और कुछ नहीं है।

मुमुक्षु :- 'महावीरजी' जाते हैं, 'तिजारा' जाते हैं तो प्रायः ९९% सकामता होती है।

पूज्य भाईश्री :- सो तो दिखता ही है न। यहाँ जो दिये और दूसरी-दूसरी सामग्री कि बिक्री जो होती है इससे पता चल जाता है कि लोग क्यों वहाँ आते हैं? जिनके घर में ऐसा तत्त्व और शास्त्र उपलब्ध है वहीं पर जब-जब अज्ञान का इतना अंधेरा है तो दूसरी जगह तो उजाला होगा कहाँ से? फिर भी अगर कहीं है तो उसकी बहुत बड़ी कीमत है।

अगर मूल दिगम्बर के संप्रदाय में इतनी गाढ़ सकामता का साम्राज्य हो जबकि यह तो बहुत बड़ा रोग है। संयोगमें से सुख लेने का और संयोगिक सुखबुद्धि का बहुत बड़ा रोग है यह तो। इसके बजाय कहीं अन्यमत में किसी को निष्कामता प्रगट हुई हो तो उसे कितना Highly Appreciate करना चाहिये? बस!

‘कृपालुदेव’ यहाँ पर Appreciate कर रहे हैं। २१७ वे पत्र में तो लिखते हैं।

मुमुक्षु :- १८७ में।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, १८७ में लिखते हैं कि, हमें तो उनकी चरणसेवा करने का मन होता है। ज्ञानी होते हुए भी क्या कहते हैं? कि, हमें तो उनकी चरणसेवा करने का मन होता है। और इनके प्रति ज्ञानी से भी ज्यादा उल्लास-प्रसन्नता आती है। वे तो कभी भी sixer ही लगाते हैं ऐसी बातों में। ज्ञानी से भी हमें ज्यादा प्रमोद आता है इनके उपर, क्यों? क्योंकि ज्ञानी तो सब समझकर बैठे हैं। ये तो इतना समझते नहीं हैं फिर भी इतनी निष्कामता इस जीवमें!!

आप आज पचास-साठ साल की उम्र में जो चीज ग्रहण नहीं कर सकते हो, वहाँ यहाँ कोई आठ साल का बच्चा ग्रहण करता हो तो उसे Highly Appreciate करना चाहिये कि नहीं करना चाहिये? ऐसी बात है यह तो। आप संप्रदाय में जन्मे, ज्ञानी हुए। सबकुछ हुआ जबकि ये तो अभी कितने दूर खड़े हैं फिर भी उन्होंने कैसी बात को उठायी है। और ऐसी बात उठायी है तो वे कहाँ से कहाँ पहुँच जायेंगे? निर्वाणपद को प्राप्त करेंगे। बहुत मूल्यवान बात है। इसतरह ‘कृपालुदेव’ की एक-एक बात के पीछे बहुत गहरी समझ है। एक-एक बात करने के पीछे बहुत गहरी समझ है।

हमारा ‘महावीरजी’ में तो बड़ा जमेला हुआ था इसी बात पर। ‘कृपालुदेव’के ये सारे पत्र पर। १८७ से २१७ पत्रों को लेकर दिग्म्बर के विद्वान सब विरोध में खड़े हो गये। विरोध में आ गये। मैंने कहा, भाई! यह स्थूल बुद्धिवालों का काम नहीं है। ‘कृपालुदेव’ के वचनों को समझना यह स्थूल बुद्धिवालों का काम नहीं है।

मुमुक्षु :- वे लोग तो रायचंदभाई-रायचंदभाई करने लगे थे ‘कृपालुदेव’ भी कहना मुनासिब नहीं समझते थे।

पूज्य भाईश्री :- जब कि ये तो एकभवतारी पुरुष हैं। उन लोगों को तो पता नहीं अभी कितने भव बाकी होंगे! विराधना के फलस्वरूप कितना परिभ्रमण बढ़ जायेगा किसको पता है? परन्तु स्वच्छंद जब फटता है तब इतनी हद तक फटता है कि, ज्ञानी को भी उड़ता है। ‘गुरुदेवश्री’ (कानजीस्वामी) तो ऐसा

कहते थे कि देखो। पीछले २००-४०० सालों में ऐसे कोई पुरुष का उदय हुआ नहीं देखा जाता है। कितनी प्रशंसा करते थे।

मुमुक्षु :- भाईश्री! मूल दिग्म्बरों में ९९-९९ प्रतिशत स्वच्छंद ही होता है इस विषयमें।

पूज्य भाईश्री :- जबकि यह तो भगवान का मूल संप्रदाय है न! तो भी। ऐसे में अगर अन्यमत में कोई रत्न जैसा निकले तो इसका कितना मूल्य समझना चाहिये? ऐसे।

अब क्या कहते हैं? कि ‘आप तथा वे जिनकी देह अभी अन्य वेद से रहती है।’ अन्य वेद अर्थात् स्त्रीवेद स्पष्ट नहीं लिखा है परन्तु इनकी पत्नी के संदर्भ में लिखना है तो वहाँ भी जीव को लक्ष्यमें लेकर लिखते हैं। ‘जिनकी देह अभी अन्य वेद से रहती हैं।’ वह जीव। आप और आपकी धर्मपत्नी ऐसा नहीं लिखते हैं। ‘आप तथा वे, जिनकी देह अभी अन्यवेद से रहती है।’ हम तो उन्हें जीव की नजर से देखते हैं। उनकी देह भले ही अन्यवेद में प्राप्त हो। ‘आप दोनों ही ज्ञानीपुरुष के प्रति जिसप्रकार विशेष निर्मलता से अभिन्नता आये उस प्रकार की बात प्रसंगोपात्त करे’ आप घरमें इसप्रकार चर्चा करना, ऐसा मार्गदर्शन देते हैं। आप दोनों मिलकर ऐसी चर्चा करना कि, ज्ञानीपुरुष के प्रति हमें अभिन्नता, अभिन्नभाव किसप्रकार विशेष निर्मलतापूर्वक, निष्कामरूप से, किसतरह अधिक से अधिक गाढ़ कितना प्रगाढ़, कितना उत्कृष्टरूप से हो। इसकी चर्चा आप प्रसंगोपात्त करना। कोई-कोई प्रसंग पर आप ऐसी चर्चा करना।

‘यह योग्य है...’ यानी कि आपके लिये यह बहुत बड़ा लाभ का कारण होगा। दूसरी कई बातें हैं। पात्रता में आने के लिये तो और भी ढेर सी बातें हैं। इसका तो एक प्रकरण ही है पूरा। परन्तु Particular जीव के लिये, किसी एक जीव के लिये कोई एक बात आवश्यक होती है तो दूसरे के लिये दूसरी और तीसरे के लिये तीसरी बात आवश्यक होती है। और ये ज्ञानी के लक्षमें होती है कि इसे क्या जरूरत है।

मुमुक्षु :- सब को लागू नहीं हो सकता?

पूज्य भाईश्री :- वैसे यह बात तो सबों को लागू पड़ती है। परन्तु ऐसी योग्यता में भी हरकोई आ नहीं

सकता है। ऐसी योग्यता में हरकोई नहीं आ सकता है उसका कारण क्या है? कि अभिन्नभाव में सर्वार्पणबुद्धि प्रगट हो जाती है। जबकि दूसरी ओर संसार के पदार्थ, संयोग, प्रसंग व कुटुम्ब परीवार आदि के प्रति जो मोह है वह मोह कुटुम्ब में समर्पण कराता है। देखा जाये तो मोह के स्थान में जीव समर्पण करता ही है न! क्या करता है जीव?

एक आदमी को खाने को कितना चाहिये? कहीये। जबकि मेहनत कितनी करता है? पूरे कुटुम्ब के लिये मेहनत करता है या केवल खुद के लिये करता है? मुझे तो चार रोटी चाहिये। मैं इससे ज्यादा परिश्रम नहीं करूँगा ऐसा कोई कहता है? फिर वह समर्पण नहीं हुआ तो क्या हुआ? जितना मोह उतना समर्पण होता है। यहाँ दर्शनमोह क्षीण होने में कारण क्या है? कि इधर सर्वार्पणबुद्धि आती है तो दूसरी ओर मोह घटता है तब सर्वार्पणता आती है। अब मोह को क्षीण करना मतलब? यही तो सबसे बड़ा problem है। सारे संसार में भटकानेवाला कोई राजा है तो यही है। सारे जगत पर एकचक्री राज्य करता है।

चक्रवर्ती को तो छः खण्ड, इन्द्र को ३२ लाख विमान होते हैं। सारे स्वर्ग पर उनका राज नहीं चलता है। जबकि ये मोहराजा का तो चौदह ब्रह्मांड में एकचक्री राज चलता है। और सभी को बैल बनाकर काम करवाता है। क्या करवाता है? सब को बैल बनाकर गाड़ी से जोड़ता है। कर मेहनत! और सब लोग मोह वश मेहनत करते हैं। भले ही परिभ्रमण बढ़ जाये। हमें फर्ज तो निभाना चाहिये न! अपना लड़का है, अपनी लड़की है, अपने माँ-बाप हैं, ऐसा है, ऐसा है, हमें मेहनत करनी ही चाहिये न! सब को बैल बनाता है और गाड़ी पर बैठकर चाबूक मारता है। चल! खींच संसार की गाड़ी तू। उठा भार! वहाँ से विरक्ति आये तब इधर की ओर आता है। और इसतरफ श्रीगुरु की ओर आता है तो उधर से आसक्ति मिटती है। simultaneously बात है—एक साथ। इसलिये ऐसी बात ली है।

मुमुक्षु :- मोह तो भूत के मकान जैसा है। मकान होता है लेकिन भूत नहीं होता फिर भी डरता है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ! सो तो भूत ही सवार हो

गया है न! मोह का भूत ही तो है। और क्या है? भूताविष्ट पुरुष। 'समयसार'में दाखिला लिया है। भूताविष्ट पुरुष ही गिना है न जीव को!

'जिस प्रकार विशेष निर्मलता से अभिन्नता आये उसप्रकार की बात प्रसंगोपात करें, यह योग्य है,...' वह आपके लिये योग्य है। 'और परस्पर में अर्थात्...' यानी कि क्या हुआ होगा कि वे कोई ऐसी करीबी भूमिका में, समीप में आ गये होंगे योग्यता के हिसाबसे। इसलिये उनको Booster देते हैं। 'कृपालुदेव'की जो Treatment देने की पद्धति है वह ऐसी पद्धति है कि भक्तिवान को भक्ति का पत्र लिखेंगे। वैराग्यवान को वैराग्य का पत्र लिखेंगे। ताजुब सा लगे अपने को ये 'लल्लुजी' को वैराग्य की बात क्यों लिखते हैं? हे प्रभु! हे प्रभु! शुं कहूँ? ये सारे दोहे 'लल्लुजी' को क्यों लिखते है? कि, उन्हें कौनसी दवाई की जरूरत है वह वे जानते हैं। कौनसा Dose उन्हें देना आवश्यक है? वैसे ये कोई भक्तिविशेष में आगे बढ़ रहे होंगे तो उन्हें सीधा ही Booster देते हैं, आगे बढ़ जाये इस हेतु से।

'और परस्पर में अर्थात् उनके और आपके बीच निर्मल प्रेम रहे वैसी प्रवृत्ति करने में बाधा नहीं है, परन्तु वह प्रेम जात्यांतर होना योग्य है।' (आप लोग) आपस में पति-पत्नी है और एकदूसरे के प्रति स्नेह होना जरूरी है किन्तु वह जात्यांतर होना, वह दूसरे प्रकार का होना चाहिये। यानी कि, मुमुक्षु की जाति का होना चाहिये ऐसा कहते हैं। सांसारिक जाति का नहीं। 'जैसा स्त्री-पुरुष का कामादि कारण से प्रेम होता है वैसा प्रेम नहीं...' उसकी बात यहाँ पर नहीं करना चाहते हैं। यहाँ तो मुमुक्षुता की बात लेनी है। आप उन्हें साधर्मीजन के रूप में, मुमुक्षुजन के रूप में दृष्टि में रखकर जिसतरह आप लोगों की निर्मलता आपस में बढ़े इसप्रकार से रहीये।

'परन्तु ज्ञानीपुरुष के प्रति दोनों का भक्तिराग है, ऐसा दोनों का एक ही गुरु के प्रति शिष्यभाव देखकर...' गुरुभाई! हमलोग नहीं कहते? गुरुभाई हैं। 'और निरंतर का सत्संग रहा करता है...' हमारा आपस में सत्संग का निमित्त है। एक गुरु के शिष्य हैं, एक ही ज्ञानी के शिष्य हैं। एकदूसरे को

आत्मकल्याण की दिशा में अग्रेसर होने में एक-दूसरे की मदद लेते हैं हमलोग। मदद करनेवाले को भाई कहा जाता है। साहित्य की भाषा में भाई का दूसरा अर्थ है-बांधव। भाई को क्या कहते हैं? बाँधव कहते हैं। क्यों बांधव कहते हैं? क्योंकि मदद करता है। भाई-भाई को मदद करता है। वैसे यहाँ एक घर में यदि आप मुमुक्षु हैं तो एक दूजे को आत्मकल्याण में सहायक हैं। इस दृष्टि से आप उन्हें देखना। जिससे कि, आपका जो निर्मल प्रेम है उसकी पूरी जाति बदल जायेगी। वैसे प्रेम रहेगा।

‘निरंतर का सत्संग रहा करता है यह जानकर, भाई जैसी बुद्धिसे,...’ देखिये! अभिप्राय कैसे पलटवाया है! ‘भाई जैसी बुद्धि से, वैसे प्रेम से रहा जाये...’ वैसे प्रेम से रहा जाये ‘यह बात विशेष योग्य है।’ यह बात आपके लिये बहुत लाभदायी है यानी कि आपको बहुत ही लाभ का कारण होगा। यह Instant Dose दिया है। आपकी योग्यता को देखते हुए आपको यही दवाई कार्यकारी होगी। अगर यह दवाई का असर हो गया तो आपकी गाड़ी पूरी पटरी पर दौड़ने लगेगी।

मुमुक्षु :- भाईश्री! इसका अर्थ कि अगर मुमुक्षु-मुमुक्षु के बीच वात्सल्यप्रेम न हो तो मुमुक्षु ही नहीं है। इसका अर्थ तो यही हुआ न?

पूज्य भाईश्री :- ठीक है। हाँ, सो तो भूमिका बाहर का विषय हो जाता है। होना ही चाहिये। अच्छीतरह होना चाहिये। और जहाँ प्रेम है वहाँ ईर्ष्या नहीं है। प्रेम है वहाँ ईर्ष्या नहीं होती। उलटा राजी होगा। जैसे बाप से बेटा सवाया निकले तो बाप को सीने में गर्व महसूस होता है कि, वाह! मेरे से भी होशियार निकला यह तो। वैसे कोई भी मुमुक्षु आगे बड़े तब दूसरे को बहुत प्रमोद होता है, प्रमोद आता है, अरे! उसकी सेवा करने को जी चाहता है। ऐसा प्रकार होना चाहिये। जब तो वात्सल्य है।

मुमुक्षु :- अपने लड़के को अच्छा खिलाये और मुमुक्षु को न खिलाये तो इसमें वात्सल्य कहाँ रहा?

पूज्य भाईश्री :- वह तो सवाल ही नहीं उठता। वह तो लौकिक में सब करते हैं वैसे ही हुआ। दूसरे लोग तो वैसे ही करते हैं। फिर मुमुक्षु में और दूसरे

में क्या अंतर रहा?

‘भाई जैसी बुद्धि से, वैसे प्रेम से रहा जाये, यह बात विशेष योग्य है। ज्ञानीपुरुष के प्रति भिन्नभाव सर्वथा दूर करना योग्य है।’ यदि थोड़ा-बहुत रहता हो तो उसे बिलकुल मिटा देवे। ध्यान खींचा है। वाक्य भले ही छोटा-सा लिख दिया किन्तु ध्यान खींचा है कि इसप्रकार के परिणाम कभी न हो यह सावधानी रखने जैसी बात है। और अभिन्नभाव में आये तो बहुत अहम बात है। कल्याण संबंधित बहुत अहम बात है। निश्चय है यानी कि सैद्धांतिक बात है।

‘श्रीमद् भगवत् के बदले अभी योगवासिष्ठादि पढ़ना योग्य है। इस पत्र का अर्थ आपकी समझ में आये सो लिखियेगा।’ यह Post card लिखा है इसका अर्थ आपकी समझ में क्या आया सो लिखना। कि, आप इसमें क्या समझें? यानी कि ‘कृपालुदेव’ सिर्फ लिख देते थे ऐसा नहीं था कभी-कभार तो इसका प्रत्युत्तर भी माँगते हैं। यह पता करने कि आप कितना समझते हो इसमें? बहुत विचक्षण पुरुष थे और कुछएक पात्र जीवों का कल्याण होने में या उनका अनन्तकाल सुधर जाने में बहुत उपकारी निमित्त वे बने हैं। ऐसा कहना उचित है कि एक कुशल वैद्य थे, Expert Doctor होते हैं वे चाहे कितने भी भयंकर रोगमें से तंदुरस्ती तक मरीज को ले आते हैं वैसे उन्होंने अपना हित साधते-साधते दूसरों के लिये काम किया है। वरना वैसे तो उन्हें बहुत कम समय मिला है। साढ़े दस वर्ष की ज्ञानदशा। दस वर्ष, पांच महीने और बीस दिन। इसमें भी व्यापार-धंधा में उपयोग देना पड़ा है और साथ-साथ मुमुक्षुओं को Treatment भी दी है। यहाँ तक रखते हैं।

मुमुक्षु :-...

पूज्य भाईश्री :- हाँ, ‘भागवत्’ में क्या है, भक्ति के कुछ एक प्रकार विशेषरूप से लिये हैं। ‘श्रीकृष्ण’ भक्ति के। जबकि ‘योगवासिष्ठ’ में वैराग्य की व मुमुक्षुता की कई सारी बातें ली है। यानी कि वे तो योग्यता देखकर दवाई का Prescription बदलते भी हैं। सो उनके अधिकार का विषय हैं। क्यों ऐसा कहाँ? ऐसा नहीं होता। सामनेवाले की योग्यता को लक्ष में रखकर कहते हैं। सो तो विषय ही पूरा उनके अधिकार का है।

पूज्य भाईश्री द्वारा लिखित 'अनुभव संजीवनी' ग्रंथमें से कुछएक वचनमृत

निजके कल्याणकी शुरुआत यथार्थरूपसे - वास्तविकरूपसे किस प्रकार होती है, इस विषयमें सिद्धांतसूत्र 'पूर्णताके लक्ष्यसे शुरुआत वही वास्तविक शुरुआत है' अनुभवसिद्ध हुआ है। यहाँ पर पूर्णता - पूर्ण शुद्ध दशारूप ध्येयके स्थानमें है-साध्यके स्थानमें है। यह सूत्र ऐसा निर्देश करता है- कि अगर ध्येय पूर्णताका नहीं निश्चित किया हो तो साध्यकी भूल रह जाती है, इसलिये उसकी शुरुआत यथार्थ प्रकारसे नहीं होती। अतः वह जीव धर्म सम्बन्धित जो कुछ भी करता है वह मार्गकी विधिके लिये शुरुआतरूप भी नहीं है। किसी भी जीवको (धर्ममें) प्रवेश करनेवालेको अपने परिणमनमें उक्त सूत्रका वाच्यभूत - तात्पर्यभूत साध्य निश्चित हुआ है कि नहीं? यह अवश्य मिलान करके/जाँच करके समझ लेना चाहिये। प्रायः जीव खुदकी मति-कल्पनासे धर्म-मार्गमें प्रवर्तता है। परन्तु शुरुआत अन्यथा प्रकारसे होनेसे धर्मका प्रारंभ तो नहीं होता, बल्कि अनादिभ्रमको तोड़नेके बजाय एक नये भ्रमका सेवन होता है। साध्यकी भूल रहनेसे साधन प्राप्त नहीं होता। (१३१)



यदि बुद्धिपूर्वक पदार्थका स्वरूप विपरीत या अन्यथा निश्चित किया हो, तो उसका यथार्थ विचारणासे ज्यों का त्यों द्रव्य, गुण, पर्यायसे अविपरीतरूपसे स्वीकार नहीं हो, तब तक पुरुषार्थ योग्य दिशामें शुरु नहीं हो सकता। दृष्टांतरूपसे किसी जीवकी वस्तुस्वरूपकी समझमें तो भूल हो, परन्तु अध्यात्मके विषयमें मुख्यता करता हो तो भी उसका प्रयत्न सफल नहीं हो सकता। अध्यात्मके भाव तो सहज होते हैं। स्वरूपकी विपरीत समझमें, प्रयत्न कृत्रिमताको धारण करता है। अर्थात् अध्यात्मका विषय परलक्ष्यी क्षयोपशममें बुद्धिगोचर होनेसे कृत्रिम मुख्यता होती है, उसमें खुद धोखा खा जाता है। खुदको अध्यात्मी मान लेनेकी यह बहुत बड़ी भूल हो जाती है। (१३२)



श्री 'समयसार' परमागममें आचार्य भगवंतोंने अस्ति-नास्तिसे - दोनों पहलूसे, अद्भुत शैलीसे निरूपण किया है।

अस्तिसे :- दृष्टिका विषयभूत ज्ञायक (द्रव्य) स्वभाव, द्रव्यदृष्टिका अनुभवपूर्ण निरूपण, व स्वभाव दृष्टिवंत - सम्यक्दृष्टिके दृष्टिके परिणमनकी मुख्यतावाले अनेक पहलुओंको तात्त्विक दृष्टिकोणसे, अद्भुत शैलीसे प्रकाशित किये हैं। सारे समयसारका यह हार्द है।

नास्तिसे :- अनादि अज्ञान मिथ्यात्वका स्वरूप, उसका अभाव करनेकी विधिका अनेक भेदोंसे निरूपण है।

इस तरह अस्ति-नास्तिसे सूक्ष्म आत्माका तत्त्व अर्थात् प्राप्तिकी रीत प्रकाशित की है। (१३३)



पुद्गल पर्याय के प्रति जीवका रस-विभावरस जितनी मात्रामें प्रवर्तता है, वह पर्यायको बहिर्मुख रहनेमें-होनेमें कारणभूत है; और अंतर्मुखका पुरुषार्थ होनेमें बाधक अर्थात् अवरोधक-प्रतिबंधक है। विभावरससे अधिकमात्रामें स्वभावका-चैतन्यका रस उत्पन्न हुए बिना पर्याय अंतर्मुख नहीं हो सकती। इस तरह बाहरमें अटकनेमें कषायरस - रागरस मुख्य है। अतः परमागममें इस रसको ही 'बंध

तत्त्व' बताया है। चलते परिणाममें उसका यथार्थ अवलोकन होनेसे वह रस मंद पड़ता है, वहाँ फिर स्वभावरस उत्पन्न होनेका अवकाश होता है। (१३४)



शास्त्र वचन वाचक है ; आत्मस्वभाव वाच्य है। ज्ञानमें ज्ञानरस उत्पन्न होनेसे वाच्यकी यथार्थता सिद्ध होती है। अगर वाच्य ज्ञानमें आये फिर भी ज्ञानरस - आत्मरस उत्पन्न नहीं हो, तो वह ज्ञान परलक्ष्यी उधाडरूप है, जो कार्यकारी नहीं होता। वहाँ प्रायः अन्यथा कल्पना होती है। यथार्थतामें/स्वलक्ष्यमें चैतन्यरस उत्पन्न होता ही है, क्योंकि :-

'द्रव्यश्रुतके सम्यक् अवगाहनसे श्रद्धागुणज्ञता प्राप्त होती है, जिससे परमार्थ सधता है' अथवा 'द्रव्यश्रुतका सम्यक् अवगाहन भावश्रुतको साधता है।' उपरोक्त सिद्धांत स्व. श्री दीपचंदजी कासलीवालके 'अनुभव प्रकाश' शास्त्रजीमें है। यह निमित्त-उपादानकी पारमार्थिक संधि है। (१३५)



ज्ञानपर्यायमें ज्ञानवेदन सदा प्रगटरूपसे रहा है। वेदन अपेक्षासे ज्ञानमें अन्य द्रव्य-भावका वेदन होना असंभव व अशक्य है; फिर भी 'परप्रवेशभावके कारण' परभाव व परद्रव्यका वेदन खुदको हो रहा है ऐसे अध्यासके कारण यह प्रगट वेदन तिरोभूत हो जाता है अर्थात् "परज्ञेयके साथ ज्ञानकी एकता परप्रवेशभावके कारण होनेसे" स्वयंका वेदन ज्ञानमें मौजूद होने पर भी उस अनुभवको पकड़ सकता नहीं। अर्थात् वेदनका (उपयोगमें) ग्रहण नहीं हो सकता। वास्तवमें तो प्रगट वेदन ही स्वसंवेदन स्वरूप है - निज ज्ञानरूप है; परन्तु वह परप्रवेशभावका अभाव होनेपर, जो कि एकमात्र भेदज्ञानके अभ्याससे होता है, आविर्भूत होता है। तब (उपयोगमें) निजवेदनके वेदन उपरांत लक्ष्यभूत ज्ञानरूप वस्तुको अनंत सामर्थ्यरूप व अनंत महिमावंत जानता है - स्व-स्वरूपरूप - अभेद अनुभूति स्वरूप अनुभव करता है। (१३६)



सदा उपयोगधारी, उपयोग स्वभावी, आनंदस्वरूप खुद स्वयमेव - यत्न बिना - ही है, है और है ही। खुदका काम खुदको - सहज स्वरूपको निहारना-इतना ही है। सिर्फ इतना कर्त्तव्य है; है उसको देखनेका है। जो है उसमें कुछ (नया) करना नहीं है; या कुछ नया बनाना नहीं है। परकी अपेक्षावृत्तिको पलटकर उपरोक्त स्वपदको पहचानकर, सन्मुख होकर, अनंत महिमाधारीको निजरससे देख !! (१३७)



निज अस्तित्वके ग्रहण हेतु, स्व. श्री दीपचंदजी कासलीवालके सम्यक् वचनामृतकी अनुप्रेक्षा करने योग्य है :- 'मेरे दर्शन, ज्ञानका प्रकाश मेरे प्रदेशमेंसे उठता है।' अवलोकनसे - प्रयोगसे ऐसे देखो। सिर्फ शब्दार्थका विचार करके वाच्यको विचारकी मर्यादामें सीमित नहीं रखते हुए, निज सत्ताके ग्रहणका अभ्यास - प्रयत्न होना चाहिये। परसे विमुख होकर वारंवार ज्ञान-दर्शनमय निजपदका अवलोकन करते हुए स्वयं सुखी हो। (१३८)



जैसे जहर खानेसे (जाने-अनजानेमें) मृत्यु होती ही है, वैसे पररुचिभावपूर्वक परके सेवनके परिणामसे संसार दुःख अवश्य होता ही है। इसलिये अरस परिणामसे उदयमें प्रवृत्ति कर्त्तव्य है। (१३९)



द्रव्यदृष्टि प्रकाश ग्रंथमें से आत्मा कैसे प्राप्त हो उस विषय पर पूज्य श्री सोगानीजी के वचनामृत

प्रश्न :- वृत्ति उठती रहती है, वह कैसे रुक जाए ?

उत्तर :- एक समयकी वृत्तिको उसीमें रहने दो। 'मैं' त्रिकाली तो एक समयकी वृत्तिमें जाता ही नहीं। त्रिकालीमें अपनापन होते ही वृत्ति भी खींचीज जायेगी (खींची चली आएगी)। २५७.



पर्याय (त्रिकाली) द्रव्यसे सर्वथा ही भिन्न है; प्रमाणमें अभिन्नता भी कहनेमें आती है, लेकिन प्रमाण निश्चयनयको झूठा करके नहीं कहता है; निश्चयसे तो पर्याय सर्वथा भिन्न है। प्रदेश एक होनेसे प्रमाण उनको अभिन्न कहता है; प्रमाण अभिन्न ही कहता है-ऐसा नहीं है; भिन्न-अभिन्न दोनों कहता है। परन्तु 'एकान्त भिन्न है'- ऐसा जोर दिए बिना, पर्यायमेंसे दृष्टि उठेगी नहीं। "अनेकांत पण सम्यक् एकान्त एवा निज पदनी प्राप्ति सिवाय अन्य हेतुजे उपकारी नहीं"-यही सत्य है। २६५.



प्रश्न :- परिणाम कैसे सुधरें ?

उत्तर :- नित्य अपरिणामी ध्रुवधाममें दृष्टि विराजमान करनेसे परिणाम सुधरने लगेंगे। २६७.



आखिर तो सदा एकान्त (अकेला) ही रहना है. तो शुरुसे ही (एकान्तका) दो-चार-पाँच घण्टोंका अभ्यास चाहिए। २६८.



यह सब (तत्त्व की) बात विकल्पात्मकरूप से जान लेने से शान्ति नहीं मान लेना, अभेद-दृष्टि प्रकट करना। २७२.



अपने सहज सुखकी पिपासा होनी चाहिए; जितनी तीव्र पिपासा...उतना जल्दी काम होता है। २९२.



अपने तो अपना समझना। दूसका कैसा समझता है, कैसा नहीं, इसका क्या प्रयोजन ? दूसरे में रुकेगा तो अपना काल व्यर्थ चला जाएगा। ३०२



प्रश्न :- स्व-पर की प्रतीति करने का तो शास्त्र में आता है न ?

उत्तर :- अरे ! स्व की प्रतीति करो। पर की प्रतीति (पर में नहीं, किन्तु) उसमें आ जाएगी। अपनी खुद की प्रतीति करो। ३२७.



प्रश्न :- पक्ष इधर (स्वरूप में) आये बिना कैसे करें ?

उत्तर :- अरे भाई ! विकल्पात्मकभाव में (निर्णय में) तो यह पक्ष करो; पीछे इधर (स्वरूप में) जम जाओ। ३३०.

२८२

ववाणिया, भादों वदी १४, गुरु, १९४७

‘हमें सत्संगकी न्यूनता के कारण कुछ भी अच्छा नहीं लगता। ... किसीसे अर्थसम्बन्ध और कामसम्बन्ध तो बहुत समयसे अच्छे ही नहीं लगते। आजकल धर्मसम्बन्ध और मोक्षसम्बन्ध भी अच्छे नहीं लगते। धर्मसम्बन्ध और मोक्षसम्बन्ध तो प्रायः योगियोंको भी अच्छे लगते हैं; और हम तो उनसे भी विरक्त रहना चाहते हैं। अबीतो हमें कुछ अच्छा नहीं लगता, और जो कुछ अच्छा लगता है, उसका अतिशय वियोग है। अधिक क्या लिखें? सहन करना ही सुगम है।’

इस पत्रमें कृपालुदेव श्री सौभाग्यभाईके सत्संग की भावना व्यक्त करते हैं कि सत्संगकी न्यूनताके कारण कुछ नहीं सुहाता। जगतके सम्बन्ध (अर्थसम्बन्ध और कामसम्बन्ध) तो बहुत समयसे, सुहाते ही नहीं। यानी कि जबसे तीव्र मुमुक्षुता उत्पन्न हुई है और जिसके फलरूप ज्ञानदशामें परिणमन कर रहे हैं - तबसे जगत के कोई सम्बन्ध सुहाते ही नहीं। ज्ञानदशामें स्वरूपकी मस्ती के कारण योगियों को प्रिय ऐसे धर्मसम्बन्ध और मोक्षसम्बन्ध अर्थात् उसरूप दशाकी भी उपेक्षा रहती है। अर्थात् उश विकल्पसे भी विरक्त रहने का अभिप्राय है। एक श्री सौभाग्यभाई का समागम ही रुचता है परन्तु उनका वियोग है और उसमें निरुपायता है इसलिये परवशता से उसे सहन करने योग्य है।

वर्तमान भूमिका में कृपालुदेव और श्री सौभाग्यभाई जैसे उत्तम कोटि के दशावान जीवों को भी सत्संग कितना प्रिय है और परम हितकारी है, यह इस पत्र से प्रदर्शित होता है और किसी भी मुमुक्षुजीव को सत्संग में रहने का बोध इस पत्र से मिलता है।



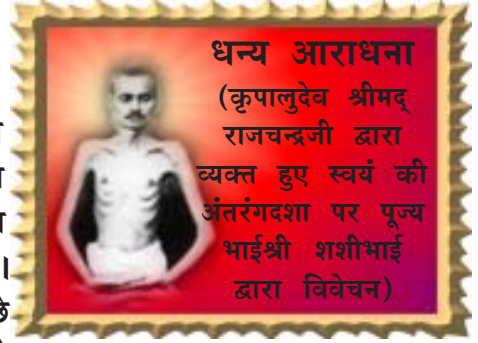
२८८

ववाणिया, आसोज वदी ५, १९४७

‘एक आत्मवृत्तिके सिवाय हमारे लिये नया पुराना तो कहाँ है? और उसे लिखने जितना मनको अवकाश भी कहाँ है?’

एक आत्मवृत्ति की मुख्यता होने से जगत में बन रहे प्रसंग अप्रयोजनभूत लगने से तत्संबंधित विचार करने के लिये मन को अवकाश नहीं है। इतना ही नहीं जगत में बन रहे नये-नये प्रसंग सम्बन्धी कुतूहल प्रायः मनुष्यों को रहातहै, वैसी कुतूहलवृत्ति ज्ञानदशा में स्वयं को छूट गई है। क्योंकि जगत में बन रहे प्रसंगों का कोई महत्त्व नहीं रहा। जगत के प्रति ज्ञानीपुरुष की वृत्ति विलक्षण प्रकार की होती है, इसका संकेत इसप्रकार संक्षेप में उक्त वचनों में रहा है।

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (अक्टूबर-२०१३) का शुल्क श्रीमती वंदनाबहन रणधीरभाई घोषाल, कोलकाता के नाम से साभार प्राप्त हुआ है, जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।



(पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा)

प्रश्न :- पूज्य गुरुदेव ने वस्तुस्वरूप का ऐसा विवेचन किया है कि विभावों में खड़े रहने का मन ही न हो, और इधर जो भगवान् आत्मा बिराज रहा है उसका आकर्षण बना ही रहे। इसमें आपको क्या कहना है ?

समाधान :- आलोचना पाठमें आता है कि मेरे गुरुने मेरे हृदय में उपदेश की ऐसी जमावट की है कि जिसके आगे इस पृथ्वी का राज्य तो क्या, तीन लोकका राज्य भी मुझे इष्ट नहीं है। वैसे ही अपने गुरुदेवने उपदेश की ऐसी जमावट की है कि अन्यत्र कहीं भी रुचि नहीं लगे। गुरुदेव ने जिस उपदेश की वर्षों तक जमावट की है उसे यदि स्वयं ने ग्रहण की हो तो चित्त कहीं अन्यत्र नहीं लगे। महाभाग्य हो तभी गुरुदेवका उपदेश वर्षों पर्यंत प्राप्त हो ! ऐसे काल में, ऐसे गुरुका मिलना और वर्षोंतक उनके उपदेश का श्रवण वह महाभाग्य की बात है ! कोई गहराईसे समझे या नहीं समझे, किन्तु वामीमें हरएक को अपूर्वता लगती कि सबसे कुछ और ही निराली बात कह रहे हैं !!

(स्वानुभूतिदर्शन-३५०)



प्रश्न :- वचनामृ में आता है कि स्वभाव की बात सुनते ही हृदय में आरपार उतर जाय, तो उसमें क्या कहना है ?

समाधान :- यह और ही कुछ कह रहे हैं और मैं तो इन विभावों के साथ एकत्व को प्राप्त हो रहा हूँ ! इसप्राकर भीतर से स्वरूप की ओर जाने का कोई निराला ही झटका लगे जो आरपार उतर जाय। अबतक यह परिभ्रमण किया और आज भी उसीमें खड़ा हूँ—ऐसा झटका लगे और अंतर से स्वसन्मुखता का पुरुषार्थ उभर पड़े। गुरुदेव की वाणी का प्रबल निमित्त था; वाणी सुनने पर अपूर्वता लगे, तो भेदज्ञान हो जाय ऐसी चोट लगे कि अंतर से स्वयं भिन्न हो जाय। जिसका उपादान तैयार

हो उसे भेदज्ञान हुए बिना नहीं रहता, वैसा उनका निमित्त था।

(स्वानुभूतिदर्शन-३५१)



प्रश्न :- कषाय की मन्दता हो वहाँ शान्ति का वेदन हो जाता है तथा पंचेन्द्रिय के विषयों में सुख-शान्ति का आभास होता है, आत्मा में सुख है ऐसा नहीं लगता; तो आगे कैसे बढ़ा जाय ?

समाधान :- एक आत्मा के सिवा बाह्य में कहीं सुख नहीं है। इतनी दृढ़ता और प्रतीति अपने अंतर में आ जाय तो परिणति स्वसन्मुख हो जाय। ज्ञायक की महिमा आये तथा आत्मा में ही सुख है, अन्यत्र कहीं सुख नहीं है, ऐसा प्रतीति का बल आये तभी पुरुषार्थ स्वसन्मुख होता है। अनादिका अभ्यास होने से उसे बाह्य में शान्ति लगती है और वह जहाँ तहाँ रुक जाता है। कुछ न हो—विकल्प भी न आयें—और मात्र चैतन्यका अस्तित्व हो, वही मुझे चाहिये, उसीमें सब भरा है—ऐसी प्रतीति का बल अंतर से आये तो आगे बढ़ता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-३५२)



प्रश्न :- बाह्य प्रवृत्ति में अशुभ में से शुभ में जाय तो वहाँ ऐसा रुक जाता है कि आत्मा को ग्रहण करने का एक ओर रह जाता है। वह कदाचित् पुरुषार्थ करे तो कुछ दिन चलता है फिर छूट जाता है; तो क्या किया जाय ?

समाधान :- अनादि से विभावों का प्रवाह चल रहा है, इसलिये परिणति को अपनी ओर पलटना बहुत कठिन पड़ता है और यों ही मन्द कषाय में चला जाता है। परिणति को पलटने के लिये तीव्र पुरुषार्थ करे तो होता है। वैसे तो जिसे हो उसे अन्तर्मुहूर्त में होता है, किन्तु अधिकांश तो प्रयत्न करते-करते होता है। बारम्बार पुरुषार्थ करता रहे, उसे छोड़े नहीं, थकान न लगे, तो उसमें कभी तीक्ष्ण पुरुषार्थ का प्रसंग बननेपर प्राप्ति होती है।

(स्वानुभूतिदर्शन-३५३)